

THE ECONOMIC TIMES

Date: 29-12-18

Gatecrashing the Marketplace

Ruppal W Sharma , [The writer is head, SP Jain Institute of Management and Research, Delhi]

At first glance, the amendments announced by GoI on December 26 on regulations for e-commerce retailers appear rather drastic. But is the policy really new? Or is it simply a case of enforcing strictly the guidelines that had earlier been put in place?

The 2017 Foreign Direct Investment (FDI) Policy Circular clearly stated that 100% FDI under an automatic route is permitted only in the ecommerce marketplace model, and not in the inventory-based one. Now, the soundness of this policy isn't the point here. What is, is that given that FDI is allowed only in the marketplace model, why are the 'new' guidelines restricting marketplace players from selling their own inventory so shocking? Answer: even though they call themselves the 'marketplace', many of the big online retailers are actually dependent on inventory-based sales for a sizeable part of their businesses.

As per the 2017 policy, the marketplace-based model refers to the provision of an IT platform by an e-commerce entity on a digital and electronic network to act as a facilitator between buyer and seller. The policy specified that an e-commerce entity providing a marketplace will not exercise ownership over the goods to be sold, and such ownership over the inventory would render the business into an inventorybased model. Further, the sales value for one vendor, or their group companies, was restricted to 25% of sales value a year.

Though this policy did raise concerns, there was less hue and cry than expected, even though a very critical part of the functioning of these platforms was being upended. As it turned out, companies like Amazon and Flipkart found a way around these restrictions by setting up multiple entities through which sales on their platform could be routed. For quite some time, this practice was ignored by the authorities. But now, for reasons that may have to do with the offline retailer and trader lobby and the upcoming elections, GoI has decided not to turn a blind eye any more.

The new guidelines explicitly state that "an entity having equity participation by e-commerce marketplace entity or its group companies" will not be permitted to sell its products on the platform run by such a marketplace entity. The wording of the clause is clearly meant to plug the loopholes of the earlier policy. In itself, it isn't a new policy direction.

Having said this, however, there are a couple of clauses in the new policy that bear closer scrutiny. One is about offering services that include warehousing, marketing support and cashbacks to all vendors "in similar circumstances". The intention seems to be the provision of a level playing field. But if entities controlled directly or indirectly by the marketplace players can no longer sell on the platform, then it's unclear why uniformity in extending services and incentives is required. Performance and the attractiveness of vendors have to be the factors to decide the level of support and incentives. The catch lies in how exactly the term 'in similar circumstances' is to be interpreted.

The second clause that could cause concern specifies that “an e-commerce marketplace entity will not mandate any seller to sell any product exclusively on its platform only”. So, the marketplace entity can’t demand exclusivity. But what if a seller wants exclusivity? Once there is an exclusive arrangement, who is to judge if this was mandated by the marketplace entity or the seller anyway? The intention of this clause may be to ensure that the e-commerce marketplace player doesn’t arm-twist a vendor into exclusive arrangements. However, exclusive arrangements may not always be detrimental to the vendor. In the case of some mobile phone brands, exclusivity has actually helped attract attention for the brand, thereby serving the e-commerce retailer, the brand as well as the customer.

For small vendors who aren’t market-savvy and have limited resources and moderate targets, exclusive arrangements actually are the best option. A blanket restriction on such arrangements doesn’t help the industry. As long as an exclusive arrangement doesn’t promote restrictive trade practices, it should be left to the market forces. In the last stretch of 2018, GoI decided to play its hand. 2019 will now tell us how the e-commerce marketplace players will pan out their strategies. Given that the policy is to come into effect in February, watch out for hectic lobbying next month.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 29-12-18

रिसती बाल्टी में पानी डालने की क्या तुक ?

सरकार का सार्वजनिक बैंकों में नई पूंजी डालने का फैसला वित्तीय अनुशासन के पैमाने पर सटीक नहीं बैठता है।

देवाशिष बसु

कांग्रेस की अगुआई वाली पिछली सरकार से विरासत में मिली अधिकांश समस्याओं की तरह सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की समस्या से निपटने के लिए भी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकार ने एक त्वरित उपाय करने की कोशिश की है। बीमार सार्वजनिक बैंकों में इस वित्त वर्ष में 410 अरब रुपये की नई पूंजी डालने का वित्त मंत्रालय का फैसला पुराने चलताऊ रवैये का ही हिस्सा है। वित्त मंत्री का कहना है कि इस कदम से पांच सार्वजनिक बैंकों को रिजर्व बैंक के त्वरित उपचारात्मक उपाय (पीसीए) मानकों के दायरे से बाहर लाया जा सकेगा। पीसीए प्रावधानों से इन बैंकों की कर्ज देने की क्षमता गंभीर रूप से प्रभावित हुई है और कई क्षेत्रों को दिए जाने वाले ऋण में उन्हें कटौती करने के लिए मजबूर होना पड़ा है।

वित्त मंत्री अरुण जेटली के मुताबिक, 'गैर-निष्पादित परिसंपत्तियों (एनपीए) की शिनाख्त की 2015 में शुरू हुई प्रक्रिया लगभग पूरी हो चुकी है।' वहीं वित्तीय सेवा सचिव राजीव कुमार दावा करते हैं कि 'एनपीए के चिन्हीकरण, वित्तीय प्रावधान, वसूली और सुधारों में सार्वजनिक बैंकों ने उल्लेखनीय प्रगति की है। ऐसे में उन्हें सशक्त करने और पूंजी से लैस करने का समय आ गया है ताकि वे सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था की वृद्धि में सहयोग दे सकें।' सवाल यह है

कि क्या सार्वजनिक बैंकों में नई पूंजी डालने से हालात बदल जाएंगे? बीते दशकों में सार्वजनिक बैंकों के प्रदर्शन पर नजर डालें तो वे चार समस्याओं से घिरे हुए दिखाई देते हैं:

कारोबारी बैंकों से कर्ज लेने के लिए राजनीतिक संपर्क का इस्तेमाल करते हैं और वह कर्ज फंस जाता है।

सरकार अपनी पसंदीदा योजनाओं के संचालन के लिए इन बैंकों का इस्तेमाल करती है जिससे उनके संसाधन व्यर्थ चले जाते हैं। कर्ज मेलों के दौरान प्रवर्तनीय प्रावधानों के बगैर ही कर्ज दे दिए जाते हैं।

कई सार्वजनिक बैंकों के प्रमुखों का पद रिक्त रहता है। किसी भी वक्त 8-10 बैंक ऐसे होते हैं जिनके चेयरमैन एवं कार्यकारी निदेशकों की नियुक्ति नहीं होती है। सरकार भी समान रूप से दोषी है। प्रधानमंत्री के दो ज्ञान संगम सम्मेलनों की अध्यक्षता करने के बावजूद ऐसा है। बैंक प्रमुखों के नाम सुझाने के लिए गठित बैंक बोर्ड ब्यूरो भी निष्प्रभावी ही साबित हुआ है।

पुरस्कार एवं दंड की कोई अंतर्निहित व्यवस्था नहीं है। असल में, बड़े पैमाने पर कर्ज फंसाने वाले चेयरमैन को भी सरकार एवं निजी क्षेत्र में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जाता रहा है।

ध्यान रखें कि यह सरकार सार्वजनिक बैंकों को तबाह करने वाली इन बीमारियों को दूर करने की कोई चर्चा नहीं कर रही है। सारी चर्चा पीसीसीए के दायरे से बाहर रखे जाने पर केंद्रित है ताकि वे फिर से कर्ज देना शुरू कर सकें। इकलौती तवज्जो इस पर रहती है कि बड़ी हुई पूंजी बैंकों की बैलेंस शीट को किस तरह दुरुस्त करेगी और पूंजी के बरक्स एनपीए का अनुपात कम हो जिसे एक उपलब्धि के तौर पर पेश किया जा सके। अतीत की तमाम सरकारों ने यही काम किया है और 70 वर्षों के कुशासन का जिक्र करने वाली यह राष्ट्रवादी बयान वाली सरकार भी इससे अलग नहीं है।

वर्ष 2008-09 से लेकर 2016-17 के बीच विभिन्न सरकारों ने करदाताओं से इकट्ठा करीब 1.1 लाख करोड़ रुपये सार्वजनिक बैंकों में लगाए। यह विशुद्ध खैरात थी। इस राशि को किसी भी प्रदर्शन सुधार से नहीं जोड़ा गया था जबकि ऐसा करना निहायत ही लाजिमी था। ऐसा क्यों नहीं किया गया? इसकी वजह यही है कि सभी नेता अपने मतलब के लिए सार्वजनिक बैंकों का दुरुपयोग करते हैं। नेताओं की नीतियों में लोकलुभावन विचारों और दोस्ताना पूंजीवाद के जहरीला मेल होता है। कर्ज माफी और कर्ज वितरण मेलों का आयोजन लोकलुभावन कदम है जबकि बड़े कारोबारी उद्यमों को संदिग्ध होते हुए भी भारी कर्ज देने के लिए बैंकों को निर्देश देना दोस्ताना पूंजीवाद की श्रेणी में आता है। फंसे कर्जों का झमेला कितना बड़ा है? इसका आकार 10 लाख करोड़ रुपये से कम नहीं है लेकिन इसके लिए किसी भी नेता या बैंक चेयरमैन को जिम्मेदार नहीं ठहराया गया है। इनाम एवं दंड का कोई मसौदा नहीं होने से बैंक में नई पूंजी डालने से सार्वजनिक पैसे की यह चोरी ही बढ़ेगी।

हाल में संपन्न विधानसभा चुनावों में जीत के बाद तीन राज्यों में सरकार बनाने वाली कांग्रेस ने किसानों का कर्ज माफ कर दिया है। इसके लिए कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी की कड़ी आलोचना की गई। राहुल को एक ऐसा लुभावनवादी बताया गया है जिन्होंने भारत को दशकों से गरीबी के गर्त में धकेले रखा। आप चाहें तो ऐसे नेता को 'आर्थिक विध्वंसक' भी कह सकते हैं। यह सच है कि कर्ज माफी योजनाएं सार्वजनिक बैंकों को बुरी तरह प्रभावित करती हैं और एक गलत उदाहरण पेश करती हैं। लेकिन कहीं अधिक बड़ी तस्वीर यह है कि सभी नेता सार्वजनिक बैंकों का कामकाज उसी तरह से चलने के पक्ष में हैं जैसा दशकों से चलता आया है।

वे इन बैंकों को बिना जांच-पड़ताल के कर्ज देने के लिए मजबूर करते हैं जिससे उन पर फंसे हुए कर्ज का बोझ बढ़ जाता है। इसके लिए बैंकों के चेयरमैन, निदेशक मंडल में नेताओं द्वारा नामित सदस्यों, सचिवों एवं नियामकों की कोई जवाबदेही नहीं है। कोई भी उन्हें नेताओं और अफसरों की पहुंच से दूर रहने वाला सक्षम उद्यम नहीं बनाना चाहता है। यहां पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मोदी सरकार के शुरूआती कदम चार राज्यों में 23 गैर-लाइसेंसी जिला सहकारी बैंकों को नई जिंदगी देने का था। इनमें से 16 सहकारी बैंक तो अकेले उत्तर प्रदेश में थे। ये सभी लाइसेंस के बगैर चलने वाले सहकारी बैंक थे। हालांकि नियमों के मुताबिक इन बैंकों को बंद कर देना चाहिए था। इस तरह के निंदनीय कृत्य से आखिर किस तरह का संकेत निकलता है ?

बैंकों के पुनर्पूजीकरण के पीछे की असली मंशा यह थी कि सार्वजनिक बैंक पहले की ही तरह कर्ज देने लगें। लेकिन इसमें थोड़ी विडंबना भी है। पिछले पांच वर्षों में कर्ज आवंटन का परिदृश्य बड़ी तेजी से बदला है। कर्ज आवंटन के बाजार में अब छोटे बैंकों एवं वित्त कंपनियों का दबदबा है। एक वक्त था जब अधिक पूंजी से लैस सार्वजनिक बैंक सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था को रफ्तार दे सकते थे लेकिन अब समय बदल गया है। नई पूंजी डालने के बाद भी इन बैंकों को निजी बैंकों एवं वित्त कंपनियों के हाथों मात खानी पड़ेगी। पुनर्पूजीकरण का फैसला करने वाले लोग न तो हालात से परिचित हैं और न ही उन्हें इसकी फिक्र ही है। आखिर इस पूरी कवायद में उनका अपना कुछ तो दांव पर लगा नहीं है। उनकी चिंता जल्द आने वाले आम चुनाव हैं।

नईदुनिया

Date: 28-12-18

पिछड़े जिलों की फिक्र

यह अच्छी बात है कि पिछड़े जिलों को विकसित करने की केंद्र की योजना के लाभ दिखने लगे हैं।

संपादकीय



देश के सबसे पिछड़े जिलों को सामाजिक और आर्थिक रूप से विकास की दौड़ में शामिल करने की केंद्र सरकार की आकांक्षी जिला योजना कुछ रंग ला रही है, यह स्पष्ट होता है नीति आयोग की ऐसे जिलों की ताजा रैंकिंग से। इस रैंकिंग के अनुसार पिछड़े जिलों में से तमिलनाडु के विरुधुनगर, ओडिशा के नौपदा और उत्तर प्रदेश के सिद्धार्थ नगर ने विकास के मामले में संतोषजनक प्रदर्शन करते हुए शीर्ष तीन में अपना स्थान बनाया है। बदलाव की इस बयार के लिए यदि किसी को श्रेय जाता है तो मोदी सरकार को, क्योंकि उसने ही पहली बार देश के सबसे पिछड़े यानी विकास से वंचित जिलों की ढंग से सुध ली।

यह उल्लेखनीय है कि इस योजना को प्रारंभ हुए अभी एक साल ही हुआ है। यदि इतने कम समय में कुछ जिलों में स्वास्थ्य, शिक्षा, बुनियादी सुविधाओं, कृषि, जल संसाधन आदि के मामले में कुछ बेहतर होता हुआ दिख रहा है तो यह स्वागतयोग्य है। निःसंदेह इसी के साथ यह सवाल भी किया जाना चाहिए कि आखिर जो काम मूलतः स्थानीय प्रशासन और राज्य सरकारों का है, वह केंद्र सरकार को क्यों करना पड़ रहा है?

यह हैरत की बात है कि राज्य सरकारों ने अपने स्तर पर इसकी चिंता नहीं की कि संसाधनहीन जिलों में विकास की रोशनी प्राथमिकता के आधार पर पहुंचाई जाए। कम से कम अब तो राज्य सरकारों को अपनी जिम्मेदारी का एहसास होना ही चाहिए। इस मामले में उन राज्य सरकारों को खास तौर पर चेतना चाहिए, जिनके पिछड़े जिले केंद्र सरकार की योजना के बाद भी विकास के मामले में फिसड़ती दिख रहे हैं। यह काम संबंधित जिलों के प्रशासन को भी करना चाहिए। आखिर वे उन जिलों के प्रशासन से कोई सबक क्यों नहीं सीखते, जिन्होंने कुछ बेहतर करके दिखाया है?

यह निराशाजनक है कि कुछ राज्य पिछड़े जिलों को विकसित करने की योजना का लाभ उठाने के मामले में तत्पर नहीं दिख रहे हैं। इससे भी खराब बात यह है कि पश्चिम बंगाल सरकार विकास के मामले में भी घनघोर राजनीतिक क्षुद्रता का परिचय दे रही है। नीति आयोग कुल 115 पिछड़े जिलों में से 111 की रैंकिंग इसीलिए कर सका, क्योंकि ममता बनर्जी सरकार ने अपने तीन पिछड़े जिलों को इस योजना का हिस्सा बनाने से ही इनकार कर दिया। आखिर यह विकास विरोधी और जन विरोधी रवैया नहीं तो और क्या है ?

अपने देश की एक बड़ी समस्या यह है कि राजनीतिक दलों के हर तरह के व्यवहार को राजनीति कह दिया जाता है, भले ही वह कितना भी जन विरोधी क्यों न हो? इससे कुराजनीति और राजनीति का भेद ही खत्म होता है। आज जब संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य पूरे करने की चुनौती है, तब यह नितांत अनिवार्य है कि देश के विकास से वंचित इलाकों को जल्द से जल्द विकसित करने की न केवल चिंता की जाए, बल्कि विकास के कामों को आगे बढ़ाना भी सुनिश्चित किया जाए। इस मामले में उत्तर भारत के राज्यों को कहीं अधिक सक्रियता दिखाने की जरूरत है, क्योंकि विकास के मोर्चे पर दक्षिण और पश्चिम भारत के राज्यों के मुकाबले उनका प्रदर्शन उत्साहजनक नहीं है।

The Evolving Role of a Secretary

Secretaries to the Government of India are playing evolving, increasingly multi-dimensional, roles.

Parameswaran Iyer, [The writes is secretary, Ministry for Drinking Water and Sanitation.]



Having now been a Secretary to the Government of India in the Ministry of Drinking Water and Sanitation for two years and 10 months, I thought that this may be an opportune time to reflect upon the nature of the job and how the role of the secretary has evolved over the decades. Traditionally, having reached the pinnacle of his or her civil service career, secretaries to the Government of India broadly played the

following main roles: Administrative head of the ministry, policy adviser to the minister, engaging with the Cabinet Secretariat and the Prime Minister's Office and representing the ministry before parliamentary committees. In today's fast-paced era, however, it is clear that the secretary's role has evolved well beyond the conventional and has become increasingly complex and multi-dimensional. In my view, these four new dimensions could be categorised into two Ts and two Cs: Travel and Technology, and Converge and Communicate.

Increasingly, the traditional distinction between policy advice and being accountable for its execution is getting blurred. When I joined as secretary in the Ministry of Drinking Water and Sanitation on March 1, 2016, the major goal of the ministry had already been determined by the government through the prime minister's announcement of an open defecation-free country by October 2, 2019. The initial feedback I got from my ministry, however, was that sanitation being a "state" subject, our role as a central ministry should be limited to setting the policy framework and providing financial and technical assistance to states.

I remember being somewhat taken aback by the above argument and responding to my Delhi colleagues: "Sure, sanitation is a state subject under the Constitution of India, but the central government also has a job to do." Clearly, and at a very minimum, we needed to actively engage with the states and nudge them towards the goal of an open defecation-free India. We thus took on the ambitious task of proactively engaging with the states and districts to put sanitation higher up on their priority list and implement the Swachh Bharat Mission in campaign mode. This took a lot of travelling to the states, districts and villages by our central team and I have personally made over 130 visits to the field, covering all states in the country. There is no doubt in my mind that it has become critical for the secretary to travel frequently to states to be effective.

Another change in the job description of the secretary is the need to keep pace with the increasing role of technology. The use of video-conferencing for review and monitoring purposes has become de rigueur for secretaries. In the Ministry of Drinking Water and Sanitation, we also started "virtual classrooms" by using master-trainers from a studio in Delhi to virtually train district and field functionaries for triggering behaviour change in rural communities, where open defecation was practised. We also developed the Swachh App, a very handy tool to monitor on a daily basis the sanitation coverage in every village, district and state. The implementation of e-office in the Government of India also means that we no longer need to have cumbersome paper files. With mobile phones and laptops keeping us in touch with our office and colleagues across the country, there is no escape from work for a secretary even if he or she is travelling or on leave.

With the major thrust of the government on delivering social sector programmes to improve the lives of poor people, it has also become crucial for secretaries to converge across silos (read ministries) for better delivery of flagship programmes. For example, effective implementation of the Swachh Bharat Mission meant that I had to continuously work with my counterparts from the ministries of school education, health, women and child development and rural development. In the days of yore, it was more common for secretaries to typically focus on their own ministries, neglecting convergence with the related

programmes of other sectors. The government's formation of the Group of Secretaries has also provided a very effective institutional mechanism for joint work between secretaries to focus upon and come up with solutions to problems outside an individual secretary's purview.

Yet another important change I have seen in the role of a secretary is the increasing significance of the need to communicate to the outside world, especially the media, with respect to the policies and programmes of the ministry. The traditional role of a secretary, and, in fact, of all civil servants, was to remain faceless and anonymous. But in this era of the 24-hour news cycle on television and the advent of social media, it has become important to articulate the priorities and progress of national programmes. As the civil service head of a ministry, the secretary needs to play a proactive role here. Since the training and inclination of most civil servants is to remain anonymous, specialised communication training for secretaries would be useful.

Finally, from a "veteran" secretary to the Government of India, some unsolicited advice for freshman secretaries: Don't worry if you are in a "bad" ministry! Some jobs are perceived to be more equal than others, but the role of a secretary remains important across ministries, even if it has changed a little. Don't treat it as a gentle ending to a glorious career and get ready to fasten your seatbelts. This final stint is likely to be the most exciting yet demanding job of your career.



Date: 28-12-18

Snooping or saving ?

Proposed rules for online monitoring should balance legitimate interest with privacy

EDITORIAL

Laws seeking to regulate online activity, especially on social media, will have to be tested against two fundamental rights: free speech and privacy. Regulations that abridge these rights tend to operate in both positive and negative ways. For instance, statutory norms relating to data protection are seen as essential to protect citizens from any breach of their informational privacy; but attempts to regulate online content are seen with suspicion. The latter category evokes doubt whether they violate their freedom of expression (as enforcement of such rules may involve blocking websites, disabling accounts, removing content and intercepting communication), and amount to surveillance that breaches privacy. Two official documents, one of them a draft proposal, that seek to introduce changes in the way rules for interception and monitoring of computer-based information are applied have caused a furore. The first was an order authorising 10 agencies under the Centre to implement Section 69(1) of the Information Technology Act, as amended in 2008, which allows interception, monitoring and decryption of information transmitted through or stored in a computer resource. The other is a draft proposing changes to the rules framed in 2011 for "intermediaries" such as Internet and network service providers and cyber-cafes. While the order listing 10 agencies does not introduce any new rule for surveillance, the latter envisages new obligations on service providers.

A critical change envisaged is that intermediaries should help identify the 'originator' of offending content. Many were alarmed by the possibility for surveillance and monitoring of personal computers that this rule throws up. The government has sought feedback from social media and technology companies, but it appears that even services that bank on end-to-end encryption may be asked to open up a backdoor to identify 'originators' of offending material. There is justified concern that attempts are on to expand the scope for surveillance at a time when the government must be looking at ways to implement the Supreme Court's landmark decision holding that privacy is a fundamental right. Some of these rules, originally framed in 2009, may have to be tested against the privacy case judgment, now that the right has been clearly recognised. It is indeed true that the court has favoured stringent rules to curb online content that promotes child pornography or paedophilia, fomenters sectarian violence or activates lynch-mobs. While the exercise to regulate online content is necessary, it is important that while framing such rules, a balance is struck between legitimate public interest and individual rights. And it will be salutary if judicial approval is made an essential feature of all interception and monitoring decisions.
